साक्षात्कार

दरवाज़ों और दिलों को खोलना: पढ़ने की संस्कृति और समावेशन के लिए मुक्त पुस्तकालयों की रचना

ऊषा मुकुन्दा के साथ बातचीत

ऊषा मुकुन्दा खुद को एक लायब्रेरियन मानती हैं। वे लायब्रेरियन की उस प्रचलित छवि को तोड़ने में भी कामयाब रही हैं जिसमें वह एक गम्भीर, गुस्सैल और दुनिया से अलग-थलग जीव दिखाई पड़ता है। ऊषा मुकुन्दा के साथ बातचीत से आपको भी यह यकीन हो जाएगा कि लायब्रेरी के बारे में आमूल पुनर्विचार कितना ज़रूरी है - ताकि ऐसी लायब्रेरी बनाई जा सके जहाँ जाने का सबका जी करे और जिसकी सारी अलमारियाँ खुली हों। क्या आपको मेरी बात पर यकीन नहीं है? तो आइए, इस बारे में उन्हीं से जानते हैं!

? **विवेक वेलांकी:** सबसे पहले वही घिसा-पिटा सवाल - हम क्यूँ चाहते हैं कि बच्चे पढ़ें?

ऊषा मुकुन्दा: आपने तो खुद ही कह दिया है कि यह एक घिसा-पिटा सवाल है! खैर, मेरे पास इसका एक घिसा-पिटा जवाब भी है और मेरे खयाल में सभी गाहे-बगाहे इसको दोहराते ही रहते हैं। मेरी राय में, पढ़ना एक बड़े कमाल का हुनर है। यह एक जीवन-कौशल है। यह हमें प्रेरणा देता है, हमें जानकारियाँ देता है, हमें सोचने के लिए प्रेरित करता है। बेशक, ये सारी बातें सही हैं और सभी इन्हें जानते हैं, फिर भी मैं इनसे थोड़ा और नीचे, ज़्यादा बुनियादी चीज़ों पर जाना चाहूँगी। हममें से बहुत सारे लोगों ने निर्माण स्थलों पर बच्चों को देखा होगा। मुझे यकीन है कि आपने भी कभी-न-कभी उनको पास से देखने की कोशिश की होगी। अगर ऐसा किया है तो आपने यह भी देखा होगा कि उन्हें अपने आसपास जो भी चीज़ मिलती है, उससे खेलने की उनके पास एक कमाल की रचनात्मक क्षमता होती है। बच्चों की यह क्षमता हमेशा मुझे खींचती रही है। वे हर रोज़ नए-नए खेल रचते हैं, कोई-न-कोई कारनामा करते रहते हैं, शायद हर वक्त

कल्पनाओं में व्यस्त रहते हैं। मगर होता यह है कि जब उनकी उम्र बढ़ती है तो एक मुकाम पर आकर ये चीज़ें ठहर जाती हैं, या तो स्कूल जाने के बाद - और यह भी कोई कम उबाऊ चीज़ नहीं है - या किसी और अवसर पर। यानी एक बिन्दु पर आकर वे ठहरने लगते हैं। चिमामान्दा नगूज़ी अदीची के शब्दों में कहूँ तो ज़्यादातर बच्चों के सामने किसी एक कहानी में समेट लिए जाने का खतरा बहुत प्रासंगिक होता है। असल में तो बच्चों को तरह-तरह की कहानियों, तरह-तरह की आवाज़ों को सुनने की ज़रूरत होती है और इसी से उनमें वह चिंगारी लगातार ज़िन्दा रहती है। मेरा खयाल है कि यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात है।

दूसरी बात यह है कि पढ़ना इन्सानी आत्मा के साथ जुड़ने जैसा कृत्य है। आप पढ़ते हैं और एक ऐसी चीज़ को छूने लगते हैं जो दुनिया के न जाने किस भाग में, न जाने किसने और न जाने कब लिखी थी। मेरी निगाह में तो यह बहुत अहम बात है। जूलियन बार्नेस की एक उक्ति बड़ी गौर करने लायक है: "एक गैर-हाज़िर लेखक और हाज़िर पाठक के बीच जो सूक्ष्म रिश्ता बनता है, उसकी जगह दुनिया की कोई शय नहीं ले सकती।" न जाने क्यों यह खयाल मुझे बहुत अन्दर तक छूता है। मेरे लिए किताबों का अनुभव ऐसा ही रहा है। भले ही लेखक वास्तव में न मौजूद रहता हो मगर जब भी मैं पढ़ती हूँ तो मुझे हर वक्त वो मेरे साथ महसूस होता/होती है।

तीसरी बात, और मेरे हिसाब से बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि हम बच्चों को बाहर की दुनिया की असंख्य चीज़ों से अवगत कराने के माध्यम के तौर पर तो पढ़ने की बहुत बात करते हैं मगर बच्चे की एक भीतरी दुनिया भी होती है और वह भीतरी दुनिया पले-बढ़े, यह बहुत ज़रूरी बात है। वह खुद अपने भीतर के झाड़-झंखाड़ साफ करे, यह बहुत ज़रूरी है। पढ़ने से यह

काम बड़ी आसानी-से हो जाता है! जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती है, उनको पीछे मुड़कर देखने, अपनी समीक्षा करने की गुजांइश भी दिखने लगती है। छोटे-से-छोटे बच्चों के पास भी पीछे मुड़कर देखने और सोचने की बेपनाह काबिलियत होती है। मेरे विचार में ये तीन बड़ी बुनियादी चीज़ें हैं जिनकी वजह से मुझे पढ़ना इतना महत्वपूर्ण लगता है।

? **विवेक वेलांकी:** आपके एक लेख में आपने बच्चों के लेखकों और बच्चों के लिए लिखने वाले लेखकों में बड़ा दिलचस्प और विचारोत्तेजक भेद बताया है। यह भेद क्या है और आप इसे क्यों महत्वपूर्ण मानती हैं?

ऊषा मुकुन्दा: जब मैंने वह लेख लिखा था तो मेरे ज़हन में यह बात बहुत साफ थी कि बच्चों के लेखक और बच्चों के लिए लिखने वाले लेखकों से मेरा क्या आशय था। अब भी, जब मैं पीछे मुड़कर उसे देखती हूँ तो यह भेद मेरे ज़हन में बहुत साफ है, मगर मेरा खयाल है कि मुझे इन दोनों श्रेणियों को व्यक्त करने के लिए कोई और तरीका सोचना चाहिए। मेरे खयाल में बच्चों के लेखक वे होते हैं जो अपनी ज़िन्दगी के आधार पर लिखते हैं। वे किताब में होते हैं। वे बाहर से खड़े होकर झाँक नहीं रहे होते हैं। वे खुद कहानी का हिस्सा होते हैं; वे खुद उस चीज़ का हिस्सा होते हैं जिसे बच्चा आत्मसात कर रहा है या पढ़ रहा है।

दूसरी तरफ, एक पूरा गिरोह है जो बच्चों के लिए लिखता है। वे ऐसी चीज़ें लिखते हैं जो उनके हिसाब से बच्चों को पसन्द आती होंगी। यानी ये लोग बच्चों की बौद्धिक क्षमता और कल्पनाशीलता के लिए ज़्यादा सम्मान नहीं रखते। वे मानकर चलते हैं कि उन्हें पहले से मालूम है कि बच्चे को क्या पसन्द आता है। एक तरह से वे बच्चे को थोड़ा बेवकूफ मानते हैं। ऐनिड ब्लाइटन इसका एक बढ़िया उदाहरण हैं। उन्होंने सैंकड़ों किताबें लिख डाली हैं और बहुत सारे लोग अभी भी उन्हें पढ़ते हैं। मगर उनके किरदारों में, उनकी भाषा में एक किस्म का खोखलापन है। वे मानकर चलती हैं कि बच्चों को ऐसी ही भाषा, ऐसे ही किरदार पसन्द आएँगे। इसी मान्यता के आधार पर ऐसे लोग लिखने बैठते हैं। मगर हमारे पास बच्चों के लेखक भी हैं जो ईमानदारी से लिखते हैं। बल्कि मैं कहूँगी कि ज़्यादा सच्चाई से लिखते हैं। वे या तो अपने बचपन के आधार पर या उस ज़माने की अपनी उन यादों के आधार पर लिखते हैं जो अभी भी उनके भीतर साँस ले रही हैं।

मैं यहाँ इस बात को भी कहना चाहती हूँ कि वे (यानी बच्चों के लेखक) बच्चों के साथ एक समानता के बोध के साथ लिखते हैं। शायद वे अपने

भीतर साँस ले रहे बच्चे के लिए लिखते हैं। मुझे मालूम नहीं कि यह समझना कितना कठिन है। फिर भी, मेरा खयाल है कि वे बच्चों से यही बातें करना चाहते हैं। बिना लाग-लपेट के। अब शिक्षा के अधिकार की बदौलत बहुत सारी किताबें छप चुकी हैं और नई लायब्रेरी खोलने के आग्रह के चलते ऐसी और भी किताबें लिखी जा रही हैं जिनके लिखने वालों ने यह तय कर लिया है कि उन्हें मालूम है कि बच्चों को क्या भाएगा। और इस श्रेणी में वे भयानक, महाभयानक चीज़ें भी हैं जिन्हें नीति कथाएँ कहा जाता है!

? **विवेक वेलांकी:** क्या आपको लगता है कि इस तरह के लेखन में चीज़ों को बहुत सीमित कर देने की प्रवृत्ति होती है? ऐसे लेखन में आप बहुत पहले से ही यह तय कर देते हैं कि बच्चे क्या पढ़ेंगे या उन्हें क्या पढ़ना चाहिए। आपको क्या लगता है?

ऊषा मुकुन्दा: बिलकुल। मेरे खयाल में यह बहुत गम्भीर समस्या है। एक वयस्क के नज़रिए से यह तय कर देना कि बच्चे को क्या पढ़ना चाहिए, उसे क्या सोचना चाहिए, उसे क्या करना चाहिए और फिर इन चीज़ों के आधार पर बच्चे को एक साँचे में ढालने की कोशिश में लग जाना, यह बड़े अफसोस की बात है। यह इसलिए भी चिन्ताजनक है क्योंकि ये सब-कुछ बहुत सूक्ष्म ढंग से चलता है।

? **विवेक वेलांकी:** बच्चों के लिए पाठ्यसामग्री चुनने के दौरान हम अक्सर यह दलील सुनते हैं कि फलाँ किताब बहुत कठिन है, उसमें बहुत ज़्यादा हिंसा है, या वह अन्याय, असमानता, भेदभाव जैसे सवालों की बात करती है जो केवल 'वयस्कों की चिन्ताएँ' होती हैं। आप इस राय से सहमत हैं कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर बच्चों के साथ बात नहीं की जा सकती हो। क्या आप इस पर कुछ और रोशनी डालना चाहेंगी?

ऊषा मुकुन्दा: जब आप अन्याय वगैरह को वयस्कों की दुनिया का सवाल कहते हैं, तो बच्चे के लिए भी तो अन्याय का सवाल उतना ही प्रासंगिक है। उसके साथ कक्षा में, खेल के मैदान में क्या कुछ होता है। बच्चे के लिए अन्याय के ये अनुभव उतने ही वास्तविक हैं जितना वयस्कों के लिए होते हैं। लिहाज़ा, ये सवाल बच्चों की ज़िन्दगियों से दूर के नहीं हैं। फिर भी मैं यही कहूँगी कि इस बारे में हमारा रवैया, हमारी आवाज़ सच्ची होनी चाहिए। जब कोई लेखक हिंसा या कठोर ज़िन्दगी के बारे में लिखे तो उसकी आवाज़ में एक सच्चाई होनी चाहिए। अगर ऐसा होगा तो मेरे खयाल में बच्चा उसकी बात को अपनी ज़िन्दगी से जोड़कर देख पाएगा। मगर मैं

किताब को खोले बिना ही बच्चे को उसमें फेंक देने की हिमायती भी नहीं हूँ। मैं इस बात का खयाल रखना चाहूँगी कि उसमें उनकी भावनाओं, उनकी सोच की गुजांइश हो।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि आप पहले किताब के बारे में भाषण दें। कतई नहीं। इस भाषण में तो आपकी सोच और राय पहले से ही आ जाएगी। इसकी बजाय मैं बच्चे से सुनना चाहूँगी कि वह हिंसा, आतंकवाद या राइख (Reich) की पुरानी कहानियों के बारे में किस तरह प्रतिक्रिया देता है। न तो हमें इन चीज़ों को केवल काम-चलाऊ ढंग से देखना चाहिए और न ही इससे उनके भीतर डर पैदा होना चाहिए। क्या आप *सडाको एण्ड द थाउज़ेन्ड पेपर क्रेन्स* किताब के बारे में जानते हैं? यह हिरोशिमा की दहशत की कहानी है। यह किताब बहुत संवेदनशील ढंग से और सम्भवत: 10-11 साल के बच्चों के लिए लिखी गई है। आप सोच सकते हैं कि 10-11 साल के बच्चे इस बात को किस तरह समझ पाते होंगे कि उस वक्त वहाँ क्या हुआ होगा और इस बात को कैसे स्वीकार करते होंगे कि यह कहानी एक मौत पर खत्म होती है। मगर लगता है कि मौत के बारे में भी एक संजीदगी और संयत ढंग से बात करना बहुत ज़रूरी है। मेरे हिसाब से तो बहुत छोटे बच्चे भी इसके लिए तैयार होते हैं। यही वह बिन्दु है जहाँ लायब्रेरियन या अभिभावक या अध्यापक एक अहम भूमिका अदा कर सकते हैं। मेरा कहना है कि बच्चों के सामने इस तरह के सवालों को लाने से न डरें क्योंकि ये सवाल तो पहले ही बच्चे के ज़हन में घूम रहे होते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** आपने लायब्रेरियों की स्थापना और इसके लिए संस्थानों को मदद करने में काफी समय और योगदान दिया है। अब आप ओपन लायब्रेरी (मुक्त पुस्तकालय) की एक प्रख्यात समर्थक के रूप में जानी जाती हैं। क्या

आप ओपन लायब्रेरी की अवधारणा पर कुछ रोशनी डाल सकती हैं? आप इसका इतना समर्थन क्यों करती हैं?

ऊषा मुकुन्दा: पहले तो मैं ज़रा ठहरकर कुछ कहना चाहती हूँ। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहती हूँ कि केवल हमारा अनुभव ही नहीं है जो महत्व रखता है; उतनी ही महत्वपर्ण बात यह भी है कि हम उसे कितनी सादगी से प्रस्तुत करते हैं। यानी मेरे लिए अनुभव का आशय ऐसी चीज़ों की सुखद स्मृतियों से हो सकता है जो कामयाब रहीं। ऐसी चीज़ें जो बच्चों के साथ आगे बढ़ पाईं या नहीं बढ़ पाईं मगर जिनसे उन्होंने कुछ सीखा हो। मगर मैं हर मुठभेड़, हर स्थिति और हर गतिविधि में सादगी और सच्चाई के महत्व पर खास ज़ोर देना चाहती हूँ। अगर ऐसा नहीं होगा तो शायद लोग कहें, "अच्छा-अच्छा, इसके पास तो बेहिसाब तजुर्बा है, यह तो कुछ भी कर सकती है।" यह बात आपके लिए भी और बच्चे के लिए भी, दोनों के लिए बोझ बन सकती है, इसलिए इसे एक तरफ रख दें।

अब सवाल आता है ओपन लायब्रेरी का। जी हाँ, यह मेरे लिए बहुत ठोस यथार्थ बन चुका है। यह मेरे लिए सिर्फ एक अवधारणा नहीं है। शायद इसकी वजह यह है कि मैं एक ऐसे स्कूल में पढ़ी हूँ जहाँ की लायब्रेरी में हर चीज़ तालों में बन्द रहा करती थी। मुझे सिर्फ लायब्रेरी पीरियड के दौरान ही किताबें दी जाती थीं। मेरे खयाल में आज भी हिन्दुस्तान भर के स्कूलों में हालात कमोबेश ऐसे ही हैं और इसी लिए मुझे इस बात पर इतना ज़ोर देना पड़ रहा है। सबसे अहम बात है कि खुलेपन की भावना बच्चे के लिए भी हो और वयस्कों के लिए भी। इन दोनों के लिए खुलेपन की भावना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि एक मुक्त पुस्तकालय में सिर्फ अलमारियाँ ही खुली नहीं होतीं बल्कि और भी बहुत कुछ हो रहा होता है। आप किताबों को छू सकते हैं, उन्हें निकाल सकते हैं, आप उनको देख सकते हैं। मगर इन सबके अलावा वहाँ भरोसे की जड़ें भी पनप रही होती हैं। और, यह किसी भी बच्चे के सीखने के लिए और आत्मसात करने के लिए एक बहुत ही अहम चीज़ है। लिहाज़ा, मेरे लिए ओपन लायब्रेरी का सवाल बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। यह ज़िम्मेदारी के एहसास, आपसी भरोसे और खुलेपन को जन्म देता है। इसमें खुलेपन का मतलब दरवाज़ों को खोल देने से और पर्दों को हटा देने से नहीं है बल्कि दिमागी खुलेपन से भी है - इस बारे में खुलापन कि बच्चे क्या पढ़ रहे हैं, वे कैसे पढ़ रहे हैं, किताबें व्हील चेयर पर बैठे बच्चे की पहुँच में भी हों। हर तरह से खुली लायब्रेरी! एकदम समावेशी!

? **विवेक वेलांकी:** मैं समझता हूँ कि ज़्यादातर लायब्रेरियन, कम-से-कम जिनसे

मैं मिला हूँ, वे सभी लायब्रेरियन इस बात से बड़े खफा होंगे/होंगी कि लायब्रेरी में कहीं ताले न हों, कोई अलमारियाँ न हों, बच्चे कोई भी किताब जब चाहे उठाने को आज़ाद हों। ऐसे लायब्रेरियनों को आप खुद को बदलने के लिए, खास तौर से स्कूलों के लायब्रेरियनों को बदलने के लिए आप उन्हें क्या समझाएँगी?

ऊषा मुकुन्दा: मेरे खयाल में यह एक बहुआयामी पद्धति है। एक बात तो यह है कि ऐसे बहुत सारे लायब्रेरियन सम्भवतः खुद ओपन लायब्रेरी के बन्दोबस्त से बहुत खुश होंगे मगर हो सकता है कि वे खुद मैनेजमेंट के लोगों से डर रहे हों। उन्हें डर रहता होगा कि कहीं उनकी किसी चूक के लिए उन्हें दण्डित न किया जाए। लिहाज़ा, शुरुआत में हमें सबसे पहले स्तर पर काम करना चाहिए।

कर्नाटक ज्ञान आयोग के माध्यम से हमने वाकई यह निर्देश जारी करवाया कि अगर बच्चों से कोई किताब खो जाती है तो उन्हें सज़ा नहीं दी जानी चाहिए। मगर इसका मतलब यह भी नहीं है कि वे जानबूझकर किताबें गवाँने लगें या उनके बारे में लापरवाह हो जाएँ। मेरे खयाल में बच्चों के साथ इस बारे में बात करना सबसे ज़रूरी है। यह पहला स्तर है। इसके बाद मेरे खयाल में लायब्रेरियन भी इस बात को समझेंगे कि अब वही अकेला/अकेली संरक्षक नहीं है। लायब्रेरी एक्टिविटी या पुस्तकालय प्रक्रिया, अध्यापकों, प्रबन्धन और सबसे बढ़कर विद्यार्थियों के बीच चलने वाली एक साझा प्रक्रिया है। फलस्वरूप, मेरे हिसाब से सबको खुली पहुँच प्रदान करना कोई बड़ी समस्या नहीं होनी चाहिए।

लायब्रेरियन को यह सोचने की कोई ज़रूरत नहीं है कि 'दुनिया का पूरा बोझ मेरे ही सिर पर आ गया है और अगर मैंने सारी अलमारियाँ खोल दीं तो दुनिया तबाह हो जाएगी। मुझे बच्चों से इस बारे में बात करनी चाहिए कि मैं अलमारियाँ क्यों खोल रही/रहा हूँ। मेरे डर क्या हैं'। लायब्रेरियन चाहें तो बच्चों को यह भी बता सकते/सकती हैं कि "मैं इन अलमारियों को खुला छोड़ने से कतराती हूँ क्योंकि फिर तुम इन्हें लेकर गायब हो जाओगे!" मेरी निगाह में यहाँ साझेदारी का एहसास बहुत महत्वपूर्ण है और मुझे यह कहते हुए तसल्ली हो रही है कि बहुत सारे सरकारी स्कूलों की लायब्रेरी अब ओपन लायब्रेरी बन चुकी हैं और वहाँ अब भी सब कुछ बड़ा सामान्य चल रहा है।

चूँकि आपने ओपन लायब्रेरी की अवधारणा के प्रति मेरे गहरे आग्रह का ज़िक्र किया है तो मैं यहाँ संक्षेप में एक बात बताना चाहती हूँ। यह मेरे लिए

भी एक सीख है। मैं चाहती थी कि लायब्रेरी खुले माहौल वाली हो। और लिहाज़ा, मैं स्कूलों में जाती रही हूँ, मैनेजमेंट के लोगों से बात करती हूँ, कभी-कभी समझाती हूँ। मगर अन्ततः मैंने बहुत सारे स्कूलों में यही पाया कि वहाँ अलमारियाँ तो खोल दी गई थीं, मगर उनमें जो किताबें थीं, जो सामग्री थी वह किसी काम की ही नहीं थी! यानी बच्चों के पास पूरी छूट तो थी मगर उस छूट का वे करें क्या? भयानक, वाहियात किताबें! लिहाज़ा, अब मेरे लिए ओपन लायब्रेरी के साथ-साथ उसमें मौजूद किताबों की गुणवत्ता का सवाल भी उतना ही महत्वपूर्ण हो गया है। यानी लायब्रेरी का खुलापन और किताबों की अच्छी गुणवत्ता, दोनों बातों पर एक साथ ध्यान दिया जाना चाहिए।

? **विवेक वेलांकी:** आपने कुछ ऐसे अनुभवों का भी ज़िक्र किया है जहाँ किताबें छः महीने बाद या साल भर बाद भी लौटी हैं। इस तरह की स्थितियों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है? आप इस स्थिति को कैसे देखती हैं?

ऊषा मुकुन्दा: मेरे लिए तो ये बड़ी खुशी की कहानियाँ हैं! मेरे हिसाब से तो जब इतनी देर के बाद भी किताब लौट आए तो लौटाने वाले को गले लगाकर उसका शुक्रिया अदा करना चाहिए। यानी उन्हें यह बात समझ में आनी चाहिए कि मैं उनके इस बर्ताव से कितनी खुश हूँ। मैं उससे क्यों, क्या जैसे सवाल नहीं करूँगी, क्योंकि मुझे मालूम है कि बच्चे ने उस किताब को ढूँढ़ने के लिए पहले ही बहुत संजीदगी से कोशिश की होगी। असल में, आप पूरी प्रक्रिया पर गौर करें - बात यह नहीं है कि मुझसे किताब खो गई है और मैं चुपचाप बैठ गया/गई हूँ और छः महीने बाद किताब लौट आती है। इसके साथ ही कुछ और भी चल रहा होता है। इस दौरान बच्चा अपने संगी-साथियों से, माँ-बाप से किताब ढूँढ़ने की गुहार लगाता है। कई बार मैंने भी बच्चों को इसके लिए सलाह दी है। मैं उनके हॉस्टलों और घरों में भी गई हूँ। ये बहुत छोटी-छोटी बातें हैं। ये कोई भारी-भरकम सवाल नहीं हैं। मगर जब वे किताब लेकर आते हैं तो बजाय यह कहने के कि अब मैं इस स्थिति में क्या करूँ, मैं इस बात पर गौर करूँगी कि किताब लौटाते हुए उनको कितनी खुशी मिल रही है। जब मैंने बैंगलोर के वैली स्कूल में काम करना शुरू किया था तो बहुत सारी किताबें बहुत जल्दी गायब हो गई थीं। तब मैंने पोस्टर लगाने शरू किए जिन पर लिखा होता था, "लौट आओ, सारी गुमशुदा किताबों, लौट आओ।" यानी मैं बच्चों को यह सन्देश दे रही थी कि मैं उन गुमशुदा किताबों का सहज भाव से इन्तज़ार कर रही हूँ और यकीन मानिए वे किताबें लौट आईं! अब आप ही बताइए कि इसमें कोई चीज़ आपको अजूबा या बेमतलब की लगती है?

मैंने जब लायब्रेरी साइंस का कोर्स किया था तो मेरे एक अध्यापक थे प्रोफेसर गोपीनाथ। मैं उन्हें कभी नहीं भुला सकती। वे कहा करते थे, "कोई किताब कभी भी खोती नहीं है। बस, यह मान लीजिए कि उसे कहीं कोई पढ़ रहा है और हमें पता नहीं है।" मेरे खयाल में यह बड़े पते की बात है। बेशक, लायब्रेरी में बड़ी महँगी किताबें भी होती हैं। हो सकता है, आप उन के बार में ज़्यादा अहतियात का रवैया अपनाएँ। आप उनके बारे में भी अपने विद्यार्थियों से बात कर सकती हैं, "तुम लोग जानते हो कि यह बहुत खास किताब है। मैं केयरटेकर की तरह ही यह किताब तुम्हें दे रही हूँ, इसका खयाल रखना।" वैसे भी, आम तौर पर किसी गुमशुदा किताब की जगह उसकी नई प्रति का बन्दोबस्त करना इतना नामुमकिन भी नहीं होता। सबसे पहले हमें इस सोच को तोड़ना होगा कि बच्चे जानबूझकर और बदनीयती के साथ किताबों को गुमा देते हैं। अगर हम यह मान लें कि ऐसा उनकी लापरवाही या भूल से ही होता है तो फिर हम उनकी लापरवाही को दुरुस्त करने की ओर बढ़ सकते हैं। आखिर, हम भी तो भूल जाते हैं। है कि नहीं?

? **विवेक वेलांकी:** किताबों से परिचित कराने और लायब्रेरी को बच्चों के लिए एक ज़्यादा खुशनुमा जगह बनाने के लिए आपकी सबसे पसन्दीदा गतिविधियाँ कौन-सी हैं? आपने अभी तक जो कुछ बताया है, उसको देखकर यही लगता है कि यह एक ऐसी जगह है जहाँ मौज-मस्ती होती है और बच्चों और बड़ों

के बीच ऊँच-नीच का भेद टूट जाता है। आप ये सब कैसे करती हैं?

ऊषा मुकुन्दाः सबसे पहली बात यह है कि ऐसी कोई भी गतिविधि अच्छी होती है जो स्कूल की सामान्य दिनचर्या से भिन्न हो। सभी गतिविधियों में खुद-ब-खुद सूक्ष्म शैक्षिक कौशल होते हैं जो शायद बच्चों को साफ दिखाई नहीं देते, इसीलिए उन्हें वे गतिविधियाँ मज़ेदार लगती हैं। मेरे लिए बुक टॉक या किताब के बारे में बात करना सबसे महत्वपूर्ण गतिविधि होती है। यह बातचीत तब होती है जब बच्चे किसी किताब को पढ़ चुके होते हैं। वे खुद उस किताब के बारे में थोड़ा-बहुत बताते हैं जो पढ़ी होती है। वे पूरी कहानी नहीं बताते बल्कि उसके छिटपुट टुकड़ों की बात करते हैं। वे बताते हैं कि उन्हें किन चीज़ों ने आकर्षित किया या कौन-सी चीज़ें खास तौर से उनको छू गईं। इनमें तस्वीरें हो सकती हैं, फन्नों की साज-सज्जा हो सकती है, किरदार हो सकते हैं या कहानी की पृष्ठभूमि उन्हें आकर्षक लग सकती है। इसमें सबसे दिलचस्प चीज़ होती है उसके बाद होने वाली चर्चा, अन्य बच्चों की तरफ से आने वाले सवाल।

बुक टॉक के बारे में एक और असामान्य चीज़ जो मैंने महसूस की है, वो यह है कि किताबों में कई बार बड़े परेशान करने वाले मुद्दे भी बहुत सहज ढंग से आकर चले जाते हैं। मिसाल के तौर पर, बड़ी कम उम्र में गर्लफ्रेंड या बॉयफ्रेंड होना या कोई बुरी आदत या कोई अन्य समस्या। कहानी में उनको इतने सहज और अच्छे ढंग से पेश किया जा सकता है कि बच्चे को पढ़ते समय यह नहीं लगता कि उसको नसीहत दी जा रही है या उस पर उंगली उठाई जा रही है। बल्कि उसे उस दर्द या उस परेशानी या उस उलझन को व्यक्त करने का एहसास मिलता है। यह बात अपने माँ या बाप को खोने या माँ-बाप के तलाक से सम्बन्धित हो सकती है। और भी ऐसी बहुत सारी परेशानियाँ हो सकती हैं। मुझे लगता है कि उस चर्चा में बिना शर्म और झिझक के खुद को खुलने देने का मौका सामने आता है। मैं कह सकती हूँ कि हम सबने वो फलाँ किताब पढ़ी है और आप उसके बारे में खास ढंग से सोचते हैं, क्योंकि हो सकता है कि आप उनमें से कुछ चीज़ों से गुज़र रहे हों। फिर धीरे-धीरे हम यह कहने की स्थिति में भी आ सकते हैं कि "हाँ, मुझे इस किताब की कहानी अपनी ज़िन्दगी के काफी नज़दीक लगी।"

बुक टॉक सिर्फ विद्यार्थियों के लिए ही नहीं होती है बल्कि इसमें हम अपने अध्यापकों को भी बुलाते हैं। यह अध्यापकों के लिए भी एक नई जगह होती है जहाँ आकर वे किसी ऐसी किताब के बारे में बात कर सकते हैं जो उन्होंने हाल ही में पढ़ी है। विद्यार्थियों के लिए भी यह रोचक अनुभव होता

है। उन्हें नए पहलू पता चलते हैं।

"अरे हाँ, फलाँ टीचर बड़े अच्छे हैं", "अच्छा, तो मैडम खेलों की किताबें भी पढ़ती हैं" या "मास्टर साहब आजकल क्राफ्ट की किताबें पढ़ रहे हैं" आदि। यह अपने अध्यापकों के भीतर झाँकने का एक तरीका बन जाता है। आप चाहें तो सपोर्ट स्टाफ को भी इस गतिविधि में जोड़ सकते हैं। मुझे तो यह बहुत अच्छा तरीका लगा। मान लीजिए कि आप किसी आवासीय स्कूल में हैं या किसी सामान्य स्कूल में हैं, और वहाँ जो औरत झाड़ू लगाती है या खाना पकाती है, हो सकता है उसने भी कोई किताब पढ़ी हो या आपने उसके लिए यह सुनिश्चित किया हो कि वह एक खास किताब पढ़े। फिर वह किताब के बारे में बात करती है, उसमें अपनी ज़िन्दगी से क्या जुड़ाव देखती है, यह बताती है। यह बड़ा दिलचस्प तजुर्बा रहा है क्योंकि इस तरह बच्चे उस व्यक्ति को भी सम्मान के भाव से देखने लगते हैं। ज़ाहिर है, इससे उस व्यक्ति को भी अच्छा लगता है।

इसके अलावा 'ट्रेज़र हंट' एक और गतिविधि है जो मुझे बहुत पसन्द है। मैं लगभग हमेशा ट्रेज़र हंट के साथ ही शुरू करती हूँ। इसमें एक सुराग एक किताब से मिलता है और वह लायब्रेरी में ही किसी दूसरी किताब तक पहुँचा देता है। दूसरी किताब में दिया गया सुराग आपको अगली किताब तक पहुँचाता है। सबसे पहला सुराग किसी किताब को ढूँढ़ने के बारे में होता है। बच्चे उस किताब को ढूँढ़ने में जुट जाते हैं। इस जद्दोजहद में उन्हें दूसरा सुराग मिलता है। सिलसिला आगे बढ़ जाता है। अन्त में, उन्हें एक सुन्दर-सी कहानी सुनाई जाती है। और यही उनका इनाम या वह खज़ाना है! इसके बारे में सबसे अच्छी बात यह है कि उन्हें इस बारे में सोचने की ज़रूरत पड़ती है कि जो किताब वे ढूँढ़ रहे हैं, वह कैसी होगी, वह कहाँ हो सकती है। सबसे अच्छा मौका वो होता है जब एक राउंड के बाद वे सारे कहते हैं, "अब हम आपके लिए ट्रेज़र हंट बनाएँगे।" ट्रेज़र हंट की व्यवस्था करना ज़्यादा कठिन होता है क्योंकि इसके लिए आपको लायब्रेरी में मौजूद सारी चीज़ों की मुकम्मल जानकारी होनी चाहिए। जब वे ट्रेज़र हंट तैयार करते हैं तो मुझे कमरे से बाहर भेज देते हैं!

? **विवेक वेलांकीः** और आप खुशी-खुशी उनकी तजवीज़ मान लेती हैं...

ऊषा मुकुन्दाः हाँ, क्यों नहीं! चाहे कोई भी गतिविधि हो, मेरे सामने वयस्कों और बच्चों का सम्बन्ध सहज, आसान और बराबरी का ही होना चाहिए। इसे कहने की ज़रूरत ही नहीं है। यहाँ तक कि मेरे लिए भी, जब मुझे लायब्रेरी में कोई समस्या होती है, जब बिना एंट्री किए कोई किताब ले जाता

है या चूहे लायब्रेरी में उत्पात मचाते हैं या व्हील चेयर पर आने वाले बच्चों के लिए जगह बनाने का सवाल होता है, तो मैं हमेशा बच्चों के साथ उस पर चर्चा करती हूँ। मैं उनसे पूछती हूँ, "बताओ, अब इस स्थिति में हम क्या करें?" आप समझ सकते हैं कि इससे उनमें भी लायब्रेरी के प्रति अपनेपन का भाव उत्पन्न होने लगता है।

? **विवेक वेलांकी:** जिस तरह से आप बता रही हैं, उसके हिसाब से तो लगता है कि आप लायब्रेरी को एक रेडिकल परिधि के रूप में देखती हैं। यहाँ इस ऊँच-नीच और भिन्नताओं को चुनौती दी जा सकती है और वर्ग व उम्र की सीमाओं के परे सहभागी समानता का दर्जा पा सकते हैं। मगर अब ई-बुक्स, ऑनलाइन बुक्स का भी ज़माना आ गया है, तो क्या आपको लगता है कि बच्चों और बड़ों के लिए लायब्रेरी की परिधि एक खतरे में पड़ती जा रही है?

ऊषा मुकुन्दाः 'रेडिकल परिधि' की आप की संज्ञा वाकई प्रासंगिक है। मुझे भी आगे से यही इस्तेमाल करनी चाहिए! जहाँ तक ई-बुक्स का सवाल है तो बच्चों के मामले में मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि लायब्रेरी खतरे में नहीं है। मैंने देखा है कि फिलहाल बच्चे लम्बे समय तक ई-बुक्स में अपनी दिलचस्पी कायम नहीं रख पाते। यह बस उनके लिए नई चीज़ जैसा होता है। कुछ देर उसे पढ़ते हैं मगर फिर वे लायब्रेरी की तरफ लौटते दिखने लगते हैं। मेरा अपना नाती जो काफी शरारती है, कभी इस किताब के लिए तो कभी उस किताब के लिए लायब्रेरी में लौटता रहता है। असल में, मुझे लगता है कि ई-बुक्स को पढ़ना काफी हद तक एक अकेलेपन की गतिविधि है। मगर लायब्रेरी एक सामाजिक परिधि होती है। बच्चों को इसमें मज़ा आता है।

जैसा कि आपने अभी कहा, यह एक रेडिकल परिधि है जहाँ वे अनपेक्षित नज़ारा देखना चाहते हैं, नई चीज़ें, नए विचारों को देखना चाहते हैं। यह एक साझा और पारस्परिक परिधि भी है। ज़रूरी नहीं कि लायब्रेरी एक स्थिर जगह ही हो। मैं कई बार बच्चों को लायब्रेरी से किताब की दुकानों पर भी ले जाती हूँ जहाँ वे खुद किताबें चुन सकते हैं। ई-बुक्स की गहमागहमी से बचने का यह एक अच्छा तरीका है। इसमें बच्चों को बड़ा मज़ा आता है। वे छूटते ही कहते हैं, "अरे वाह! मुझे क्या पता था कि किताबें इतनी सारी होती हैं!" या "अरे वाह! फ्लिपकार्ट पर तो हम किताबों को छू ही नहीं पाते।" यानी वे खुद इस बारे में अपनी वजह ढूँढ़ लेते हैं कि यह हकीकत की दुनिया क्यों इतनी रोमांचक है। इस तरह के सफर में हमेशा आखिर में उन्हें चॉकलेट या आइसक्रीम मिल ही जाती है जिससे उनका अनुभव और मज़ेदार बन जाता है। यह उनके लिए सैर-तफरीह का मौका

बन जाता है। यह समाजीकरण भी है, किताबों के बारे में चर्चा का मौका भी है। मेरी नज़र में लायब्रेरी सिर्फ एक जगह का नाम नहीं है, बल्कि यह हमारे ज़हन में भी है। यह एक सोच है, एक जज़्बा है। मैं कहीं भी आ-जा सकती हूँ। तो निजी तौर पर मुझे लायब्रेरी के खतरे का डर नहीं लगता। न तो मैं ई-बुक्स से होड़ कर रही हूँ और न ही उन पर रोक लगा रही हूँ। यह भी ज़रूरी बात है। सबको साथ जीने दो। और यह हो सकता है। कुछ चीज़ों के मामले में ई-बुक्स ही कमाल की हैं और कुछ मामलों में अभी भी असली कागज़ की किताब ही ज़्यादा मज़ा देती है।

? **विवेक वेलांकीः** क्या आप आखिर में हमारे श्रोताओं और पाठकों के लिए कुछ कहना चाहेंगी?

ऊषा मुकुन्दाः मुझे रबिन्द्रनाथ टैगोर की यह पंक्ति बड़ी अच्छी लगती है जो उन्होंने बहुत सालों पहले न्यूयॉर्क सिटी में एक रेडियो प्रसारण के दौरान कही थी। बच्चों के बारे में बात करते हुए उन्होंने कहा था, "बच्चों के दिमाग को अपने सामने आने वाली हर चीज़ से टकराने दो, उन्हें अचम्भे का मज़ा लेने दो। उनका मस्तिष्क ऐसा हो जो हमेशा हर चीज़ का स्वागत करने को तैयार रहे।" मुझे यह नसीहत बड़ी काम की लगती है क्योंकि यह सिर्फ बच्चों के लिए नहीं है बल्कि हम सबके लिए प्रासंगिक है। मेरा खयाल है कि अगर हम सबमें वह भव्य स्वागत का भाव हो तो हम 'हम' और 'वे' की विभाजक रेखाओं के फेर में पड़े बिना बच्चों के साथ सारी कमाल की

चीज़ें कर सकते हैं। मेरा खयाल है कि यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। दोनों के बीच कोई सीमाएँ नहीं होनी चाहिए। ये सीमाएँ हम खुद पैदा कर देते हैं।

मेरा खयाल है कि अगर मेरे पाठक लायब्रेरियन और प्रशिक्षु लायब्रेरियन हैं तो मैं उन्हें कहना चाहूँगी कि नई चीज़ों को आज़माना बड़ा मज़ेदार होता है। हो सकता है कि मैंने बहुत सारी बातें कही हों और आप सोच रहे हों, "हे भगवान! मैं यह सब कैसे पर पाऊँगा/पाऊँगी।" मगर, मेरा खयाल है कि अगर आप इन सब चीज़ों में खुले दिल से उतरें, एक-एक कदम आगे बढ़ाएँ, अपनी सुविधा के अनुसार चलें मगर लगातार चलते जाएँ तो इसके सुख को आप नज़रअन्दाज़ नहीं कर पाएँगे। पिछले तीस साल से भी ज़्यादा समय से मेरे लिए यह यात्रा बड़ी मज़ेदार रही है। और इसीलिए मुझे पूरा यकीन है कि एक दिन सारी दुनिया की लायब्रेरी बच्चों और किताबों से भरी होंगी - यकीनन।

ऊषा मुकुन्दा: पेशे से लायब्रेरियन हैं। वैली स्कूल में लायब्रेरियन रह चुकी हैं। पिछले तीस साल से बच्चों और किताबों के बीच काम कर रही मुकुन्दा 'सेंटर फॉर लर्निंग', बैंगलोर की सहसंस्थापक हैं जहाँ उन्होंने एक मुक्त पुस्तकालय की भी स्थापना की है।

विवेक वेलांकी: फिलहाल, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी स्थित कॉलेज ऑफ एजुकेशन के करिक्युलम, इंस्ट्रक्शन एण्ड टीचर एजुकेशन विभाग से पीएच.डी. कर रहे हैं। जिस समय यह साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया था, उस समय वे रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंटरी एजुकेशन (आरआरसीईई), दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोजेक्ट ऑफिसर के पद पर काम कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सुधार, आलोचनात्मक सिद्धान्त, जाति, नस्ल और जेंडर आदि सवाल उनके शोध का मुख्य विषय रहे हैं।
सम्पर्क: vivek.vellanki@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: योगेंद्र दत्त।

सभी चित्र: पूजा के. मैनन: *एकलव्य*, भोपाल में बतौर जूनियर ग्राफिक डिज़ाइनर काम कर रही हैं। चूँकि वे अन्यथा बातचीत करने में झिझकती हैं, स्केचिंग ने उनके विचारों को सम्प्रेषित करने और टिप्पणियों का दस्तावेज़ीकरण करने में एक माध्यम का काम किया है।

यह साक्षात्कार क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केन्द्र (आरआरसीईई), दिल्ली यूनिवर्सिटी द्वारा डायलॉगिंग एजुकेशन श्रृंखला के तहत रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार का सम्पादित संस्करण है। इस संकलन के साक्षात्कारों को लिखित और ऑडियो माध्यमों में www.rrcee.net पर भी देखा जा सकता है। सम्पादक - विवेक वेलांकी व पूनम बत्रा।

Reference: Mukunda, U. (2006). Children and Reading. Journal of the Krishnamurti Schools. (10). Retrieved from http://www.journal.kfionline.org/issue-10/children-and-reading